TIGHT BINDING BOOK

सरल राजयोग

स्वामी विवेकानन्द



श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

सरल राजयोग

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री,
प्रयाग



श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

जून १९५०] [मूल्य ।।)

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली नागपुर—१ म प्र

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ५० वाँ

मुद्रक—
रामगोपाल गिरधारीलाल श्रीवास,
बजरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, स. नं. २, नागपुर

वक्तव्य

अमेरिका में श्रीमती सारा सी. बुल के निवास-स्थान पर जब श्री स्वामी विवेकानन्दजी अपने कुछ शिष्यों सहित ठहरे हुए थे उस समय उन्होंने योग-साधन पर कुछ छोटे छोटे भाषण दिए थे जिन्हें श्रीमती बुल ने लिपिबद्ध कर लिया था। उसके बाद सन् १९१३ में हमारे अमेरिका निवासी मित्रों ने इन भाषणों को अन्य भक्तों एवं श्रद्धालु व्यक्तियों के निमित्त एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। प्रस्तुत पुस्तक उसी अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसमें श्री स्वामीजी ने संक्षेप रूप में राजयोग का सार दिया है। हमारे जीवन-गठन एवं चरित्र-निर्माण के लिए यह पुस्तक बड़ी ही सुन्दर एवं उपयोगी है।

यह अनुवाद श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रयाग ने करके दिया है। उनका यह अनुवाद भाषा तथा भाव दोनों ही की दृष्टि से सच्चा रहा है। उनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

डॉ. पं. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर को भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में हमें बड़ी सहायता दी है।

हमें विश्वास है कि श्री स्वामीजी की इस पुस्तक से हिन्दी जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर, प्रकाशक

ता. १५-६-१९५०

अनुक्रमणिका



स्वामी विवेकानन्द

सरल राजयोग

प्रस्तावना

अनेक विज्ञानों में राजयोग भी एक विज्ञान है। यह विज्ञान इन्द्रिया-गोचर राज्य के द्रष्टा मन का विश्लेषण है; और उसी के साथ आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक राज्य भी निर्मित हो उठता है। सभी देशों के आचार्यों ने एक स्वर से कहा है, "हमने सत्य देखा और जाना है।" ईसा, पॉल और पीटर सभी ने कहा है, "अपने द्वारा प्रचारित सत्य को हमने प्रत्यक्ष किया है।"

यह प्रत्यक्ष अनुभव योग द्वारा प्राप्त होता है।

जीवन की परिधि केवल संज्ञा (जागृत अवस्था) अथवा स्मृति ही नहीं है, क्योंकि अन्य भी एक इन्द्रियों द्वारा अगम्य स्थल है। इस अवस्था में और सुषुप्ति में इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं। किन्तु इन दोनों के बीच ज्ञान और अज्ञान जैसा आकाश पाताल का भेद है। यह आलोच्य योगशास्त्र ठीक विज्ञान के समान ही तर्कसङ्गत है।

मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उद्गम है।

योगशिक्षा का अर्थ है जड़ जगत् को दास बनाना और उसका दासत्व ही समीचीन भी है।

योग अर्थात् योजना करना; अर्थात् जीवात्मा के साथ परमात्मा का मिलन कराना।

मन ज्ञानभूमि और उसके नीचे के स्तर में कार्य करता है। हम लोग जिसे "ज्ञात" कहते हैं वह हमारी प्रकृति की अनन्त शृङ्खला की एक कड़ी है।

थोड़ासा ज्ञान लेकर हमारा यह "अहम्" है, और उसके चारों ओर विराट् अज्ञान है; इस "अहम्" के उस पार हमारा वह अज्ञात इन्द्रियागम्य स्थल है।

निष्कपट भाव से योगाभ्यास करने पर मन का एक के बाद एक पर्दा सा खुलता जाता है और नवीन नवीन सत्य का प्रकाश होता जाता है। हमें धीरे धीरे इस नूतन जगत् की खोज करनी है। अन्तर में नई नई शक्ति का विकास चतुरता से इस प्रकार कराना है जिससे कि बीच में ही अवरोध न हो जाय। मानो हीरे की कनी सामने पड़ी हो किन्तु काँच की 'चमक दमक' में जैसे हम उसे भूल न जायँ।

भगवान् ही हमारे लक्ष्य हैं। उनके समीप न जा सकना ही हमारी मृत्यु है।

जो लोग साधक—मुमुक्षु हैं, उन्हें तीन बातों की आवश्यकता है।

पहली है ऐहिक और पारलौकिक इन्द्रिय-भोगवासना का त्याग तथा केवल भगवान् और सत्य को लक्ष्य बनाना।

दूसरी है सत्य और भगवत्प्राप्ति की तीव्र आकाङ्क्षा। जल में डूबे मनुष्य को जैसे प्राणवायु की इच्छा से व्याकुलता होती है ठीक वैसे ही व्याकुल हो जाओ। उसी प्रकार तीव्र रूप से भगवान् को चाहो।

तीसरी बात में छः शिक्षायें हैं।

(१) मन को बहिर्मुख न होने देना।

(२) मन को अन्तर्मुख करके एकाग्र बनाना।

(३) निर्विरोध सहिष्णुता या पूर्ण तितिक्षा।

(४) अनन्यता—सिवाय भगवान् के और कुछ न चाहना।

(५) सदसद्विवेक—किसी एक वस्तु को लेकर उसके सदसद्विचार को समाधान न होने तक न छोड़ना। हम सत्य को जानना चाहते हैं, इन्द्रियतृप्ति को नहीं; इन्द्रियतृप्ति पशुधर्म है, मनुष्य उससे सन्तुष्ट नहीं रह सकता। मनुष्य अर्थात् मननशील; जब तक वह मृत्यु को नहीं जीत लेता, जब तक वह प्रकाश को नहीं प्राप्त करता, तब तक वह युद्ध करता ही रहेगा। वृथा बात को बिल्कुल छोड़ दो। समाज और लोकमत की पूजा ही मूर्तिपूजकता है। आत्मा स्त्री-पुरुष के भेद से रहित, जातिभेद-रहित और देश-काल के भेद से परे है।

(६) सर्वदा आत्मस्वरूप की चिन्ता करो। कुसंस्कार से बचो, परम्परा से "मैं नीच हूँ", "मैं नीच हूँ" इस तरह सोचकर अपने को नीच मत बना डालो; जब तक ब्रह्म के साथ अभेद ज्ञान (साक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति) न हो जाय तब तक तुम ठीक जो हो उसी को सोचो।

इस साधननिष्ठा के बिना फल-प्राप्ति दुर्लभ है। हम अनन्त की धारणा कर सकते हैं, किन्तु भाषा के द्वारा उसे व्यक्त करना असम्भव है। जैसे ही हम उसे अभिव्यक्त करना चाहते हैं उसे सीमित बना डालते हैं। फलत: अनन्त सान्त हो जाता है।

इन्द्रियजगत् की सीमा को छोड़कर जाना पड़ेगा। केवल इन्द्रिय ही क्यों, बुद्धि से भी अतीत होना पड़ेगा। यह शक्ति हम लोगों में है भी। प्राणायाम का प्रथम साधन एक सप्ताह अभ्यास करके शिष्य गुरु को बताये।

प्रथम पाठ

अपने अपने व्यक्तित्त्व का अनुशीलन आवश्यक है। किन्तु सभी को एक केन्द्र में जाकर मिलना ही पड़ेगा। अनुप्रेरणा और चिन्ता के मूल में है कल्पना।

प्रकृति का रहस्योद्घाटन हम लोगों के अन्दर ही है। पत्थर का गिरना बाहर हुआ किन्तु "मध्याकर्षण" के आविष्कार की शक्ति हम लोगों के अन्दर ही थी, बाहर नहीं।

अति भोजन या अनशन, अधिक निद्रा या बिलकुल न सोना योगसाधन में विघ्न हैं।

अज्ञान, अस्थिर मन, ईर्ष्यापन, आलस्य और तीव्र आसक्ति योगाभ्यास में विघ्नस्वरूप हैं। योगी के लिये इन तीनों की विशेष आवश्यकता है :

(१) देह और मन की पवित्रता। प्रत्येक प्रकार की मलिनता, जो मन को नीचे गिरा देती है योगी को त्याग देनी चाहिए।

(२) धैर्य। पहले अनेक प्रकार की आश्चर्यमयी दर्शनादि घटनायें होंगी, पश्चात् सब बन्द होजायेंगी। यही सब से अधिक विपत्ति का समय होता है, इस समय धैर्य धारण करना चाहिए, अन्त में सत्य साक्षात्कार सुनिश्चित है।

(३) अध्यवसाय। विपद, आपत्ति, रोग, दुःख किसी से भी अध्यवसाय में कमी न आये, एक भी दिन साधन-भजन में नागा न हो।

साधन-भजन का सब से अच्छा समय है दिन और रात्रि का सन्धिक्षण या सन्ध्याकाल। इस समय देह और मन खूब शान्त रहते हैं, चञ्चलता या अवसाद का उस समय आधिक्य नहीं रहता। यदि उस समय न हो सके तो सोने से पहिले और जागते ही अभ्यास करना चाहिए। देह खूब स्वच्छ और शुद्ध रखने के लिये स्नानादि करना चाहिए।

स्नान के पश्चात् दृढ़तापूर्वक आसन पर बैठना चाहिए, मन में भावना करे जैसे मैं पहाड़ के समान अचल होगया हूँ, कोई किसी प्रकार भी मुझे हटा नहीं सकता। मेरुदण्ड के ऊपर अधिक ज़ोर न देकर कमर, गर्दन और शिर सीधा रखे। मेरुदण्ड के अन्दर से ही सब प्रक्रियायें होती हैं, अतः इसको क्षति पहुँचाने वाला कोई काम न होना चाहिए।

पैर की अँगुली से आरम्भ करके धीरे धीरे समस्त देह को स्थिर करना चाहिए। इसी स्थिर भाव का मन में चिन्तन करना चाहिए, यदि ऐसा करने में प्रत्येक अंग के स्पर्श की आवश्यकता हो तो वह भी करे। नीचे से आरम्भ करके, किसी अंग को न छोड़ते हुए माथे तक प्रत्येक अंग को स्थिर करना चाहिए। तत्पश्चात् समस्त देह को स्थिर करना चाहिए। सत्य प्राप्त करने के लिये ही भगवान् ने यह देह

दी है, इसको साधन बनाकर ही संसार-समुद्र के पार सत्य के राज्य में तुम्हें जाना है। इतना करने पर नासिका के दोनों छिद्रों से श्वास लो और उसी प्रकार निकाल दो। तत्पश्चात् जितनी देर बिना कष्ट के रह सको बिना श्वास लिये रहो। इस प्रकार चार बार करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से श्वास लो और भगवान् के समीप ज्ञानप्रकाश के लिये प्रार्थना करो।

"जिन्होंने इस विश्व की सृष्टि की है, मैं उनकी महिमा का ध्यान करता हूँ, वे हमारे मन को प्रबुद्ध करें।" इस मंत्र का दस पन्द्रह बार जप और उसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिए।

जो कुछ उपलब्धि या दर्शनादि हो उसको गुरु के सिवाय किसी को न बताये।

जितना हो सके, मौन रहे।

सत्चिन्तन करे; हम लोग जो चिन्ता करते हैं वही हो जाता है। सत्चिन्तन से मन की समस्त मलिनता धुल जाती है।

योगी छोड़कर और सभी दास हैं; मुक्तिलाभ के लिये समस्त बन्धन काटने पड़ेंगे।

अन्तर्निहित सत्ता को सभी जान सकते हैं। यदि भगवान् हैं तो उनकी प्रत्यक्ष भाव से उपलब्धि करनी है; यदि आत्मा है तो उसका दर्शन और अनुभव करना है।

आत्मवस्तु है तो उसके जानने का एक मात्र उपाय है देहाध्यास को मिटाना। "देह आत्मा नहीं है" इसका सतत अभ्यास और अनुभव ही देहाध्यास मिटाना है।

योगी लोगों ने इन्द्रियों को प्रधानतः द्विविध कहा है:– ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय अथवा ज्ञान और कर्म।

अन्तरिन्द्रिय या मन के चार स्तर कहे गये हैं——

प्रथम। मन अथवा चिन्तनशक्ति। इसको संयत न करने से इसकी समस्त शक्ति नष्ट हो जाती है। संयत करने से वही एक अद्भुत शक्ति का आधार हो जाता है।

द्वितीय। बुद्धि अथवा इच्छाशक्ति (इसको बोधशक्ति भी कहा जाता है)।

तृतीय। अहङ्कार अथवा अहंबुद्धि।

चतुर्थ। चित्त। यहीं है समस्त वृत्तियों का आधार। यह मानो मानस-सागर है और वृत्तियाँ मानो तरङ्गें हैं।

चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम ही है योग। समुद्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार तरंगों के कारण अस्पष्ट अथवा छिन्न विच्छिन्न हो जाता है, आत्मा का प्रतिबिम्ब भी उसी प्रकार मन की तरंगों से विच्छिन्न हो जाता है। समुद्र जब तरंगशून्य होकर दर्पण के समान हो जाता है तभी उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। उसी

प्रकार चित्त जब संयम के द्वारा सम्पूर्ण भाव से शान्त हो जाता है, तभी आत्मदर्शन होता है।

चित्त यद्यपि सूक्ष्मतर जड़विशेष है, तथापि यह देह नहीं है और देह द्वारा चिरकाल तक आबद्ध भी नहीं रहता। हम लोग कभी कभी देहज्ञान भूल जाते हैं, यही इसका प्रमाण है। इन्द्रियों को वशीभूत कर हम इच्छानुसार इस अवस्था की प्राप्ति के लिये अभ्यास कर सकते हैं।

यह अवस्था पूर्ण रूप से वश में होने पर सम्पूर्ण जगत् हमारे वश में हो सकता है। कारण कि इन्द्रियों द्वारा ही जो सब विषय हमारे समीप पहुँचते हैं उन्हीं को लेकर यह जगत् है। स्वाधीनता ही उच्च जीवन का चिह्न है। इन्द्रियबन्धन से अपने को मुक्त कर लेने पर ही आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है।

जो इन्द्रियों का दास है वही संसारी है, वही दास है।

चित्तविक्षेप का सम्पूर्ण रूप से निरोध करने पर ही हमारी देह का नाश होता है। इस देह को तैयार करने में करोड़ों वर्षों से हमें इतना कड़ा परिश्रम करना पड़ा है कि उसी चेष्टा में व्यस्त रहते रहते, इस देहप्राप्ति का मुख्य उद्देश्य पूर्णता-प्राप्ति है, यह हम भूल गये हैं। हम सोचते हैं कि इस देह की तैयारी ही हमारी प्रत्येक चेष्टा का प्रधान लक्ष्य है, इसी का नाम माया है। इस माया को हमें मिटाना पड़ेगा और मूल उद्देश्य की ओर ले जाना पड़ेगा। हमें यह अनुभूति

करनी है कि हम देह नहीं हैं, देह हमारा नौकर है। मन को भी देह से पृथक् करके देखना सीखो, सोचो कि यह देह नहीं है। इस जड़ देह को चैतन्य और जीवन से प्रतिबिम्बित करके हम सोचते हैं कि यही चेतन और सत्य है। हम लोग इतने दिनों से यह आवरण (खोल) पहने हैं कि अब यह भूल गये हैं कि वास्तव में हम यह आवरण नहीं हैं। यह देह केवल एक यंत्र है, हमारा दास है, प्रभु नहीं; इस प्रकार इच्छानुसार उसे फेंका जा सकता है।

द्वितीय पाठ

राजयोग का नाम अष्टाङ्गयोग है, क्योंकि इसके प्रधान अंग आठ हैं। जैसे—

प्रथम है यम। योग का यह अंग सब से अधिक आवश्यक है। सारा जीवन इसी से नियन्त्रित होता है। यह पाँच प्रकार का है।

(१) मन, कर्म, वचन से हिंसा न करना

(२) मन, कर्म, वचन से लोभ न करना

(३) मन, कर्म, वचन से पवित्रता रखना

(४) मन, कर्म, वचन द्वारा सत्यनिष्ठ होना

(५) मन, कर्म, वचन से व्यर्थ दान ग्रहण न करना अर्थात् अपरिग्रह।

द्वितीय है नियम। शरीर की देखभाल, स्नान, परिमित आहार इत्यादि।

तृतीय है आसन। मेरुदण्ड के ऊपर ज़ोर न देकर शिर सीधा रखना।

चतुर्थ है प्राणायाम। प्राणवायु को वशीभूत करने के लिये श्वासप्रश्वास का संयम।

पञ्चम है प्रत्याहार। मन को बहिर्मुख न होने देकर उसे अन्तर्मुख करके किसी वस्तु के समझने के लिये बारम्बार विचार करना।

षष्ठ है धारणा। किसी एक विषय में मन को एकाग्र करना।

सप्तम है ध्यान। किसी एक विषय में मन की निरन्तर चिन्ता।

अष्टम है समाधि। ज्ञानालोक की प्राप्ति—हमारी साधना का लक्ष्य।

हमें यम-नियमों का जीवनभर अभ्यास करना चाहिए। जोंक जिस प्रकार एक तिनके को दृढ़ता से पकड़कर दूसरे को छोड़ती है, ठीक उसी प्रकार योग इसी उपाय की शिक्षा देता है। समस्त मनःशक्ति को वशीभूत करना ही योगाभ्यास का मुख्य और वास्तविक उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य है किसी विषय में उसको सम्पूर्ण रूप से लगाना।

यदि व्यर्थ बकवास करोगे तो योगी न बन सकोगे।

नीचे का कदम हटाने से पहिले हमें ऊपर का कदम अच्छी तरह जमा लेना चाहिए।

इसके पश्चात् प्रतिपाद्य विषय है—प्राणायाम, अर्थात् प्राण का नियमन। प्राणवायु किस प्रकार चित्तभूमि में से होकर आध्यात्मिक राज्य में ले जाया जाता है, इसका राजयोग में वर्णन है। यह समस्त देहयन्त्र का मूलचक्र है। प्राण पहले फुसफुस में, फुसफुस से हृदय में और हृदय से रक्तप्रवाह में और रक्तप्रवाह से मस्तिष्क में और सब

के बाद मस्तिष्क से मन में क्रिया करता है। मनुष्य की इच्छाशक्ति जिस प्रकार देह के ऊपर क्रिया कर सकती है, ठीक वैसे ही देह की क्रिया भी इच्छाशक्ति को जागृत कर देती है। हमारी इच्छाशक्ति बहुत ही दुर्बल है; हम इतने बन्धनों में हैं कि उसको ठीक रूप में ग्रहण नहीं कर पाते। अधिकांश कार्य की प्रेरणा हमें बाहर से मिलती है, बाह्य प्रकृति हमारे आभ्यन्तरिक सन्तुलन या साम्य को नष्ट कर देती है, परन्तु हम उसका साम्य नष्ट नहीं कर पाते (जो हमें करना चाहिए)। किन्तु यह सब भूल है। वास्तव में बाह्य प्रकृति की अपेक्षा हमारे भीतर कहीं अधिक शक्ति है।

जो अन्तर के चिन्ताराज्य को जीत चुके हैं, वे ही बड़े साधु हैं, वे ही आचार्य हैं, उनकी वचनशक्ति भी उतनी ही अधिक है। किले के उच्च शिखर पर बँधे हुए किसी मन्त्री को उसकी स्त्री ने बरसाती कीड़ा, मधु, रेशमी सूत, सूतली और रस्सी द्वारा छुड़ा दिया था। इस रूपक में भलीभाँति यह समझाया गया है कि किस प्रकार प्राणवायु का नियमन करते करते क्रमशः मनोराज्य विजित किया जा सकता है। इसी प्राण की सहायता से एक के बाद एक शक्ति वशीभूत कर हम एकाग्रता रूप रस्सी पकड़ेंगे; और उसी रस्सी के सहारे देहरूप कारागार से उद्धार पाकर प्रकृत मुक्तिलाभ कर सकेंगे। मुक्ति प्राप्त कर उसके साधन हम छोड़ दे सकते हैं।

प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं।

पहला है पूरक—श्वास लेना।

दूसरा है कुम्भक—श्वास रोकना।

तीसरा है रेचक—श्वास छोड़ना।

दो शक्तिप्रवाह मस्तिष्क में से होकर मेरुदण्ड में बहते हैं और उसके सिरे पर एक दूसरे को अतिक्रमण करके फिर मस्तिष्क में लौट जाते हैं। इन दोनों में एक का नाम है सूर्य (पिंगला)। पिङ्गला मस्तिष्क के दक्षिणार्ध से बाहर होकर मेरुदण्ड के बायीं ओर मस्तिष्क के ठीक नीचे एक बार एक दूसरे को लाँघकर फिर मेरुदण्ड के नीचे (8) के अर्ध भाग के आकार के समान फिर एक बार एक दूसरे को अतिक्रम करती है।

अन्य शक्तिप्रवाह का नाम है चन्द्र (इड़ा)। इसकी गति पिङ्गला से ठीक उल्टी है और वह (8) के दूसरे अर्धांश के आकार को बनाती है। देखने में (8) इस प्रकार होने पर भी इसका नीचे का भाग ऊपर के भाग से बहुत लम्बा है। ये दोनों प्रवाह रात दिन बहते हैं और विभिन्न केन्द्रों में जिन्हें हम चक्र कहते हैं, ये दोनों जीवनी-शक्ति का सञ्चय करते हैं, किन्तु हम उसका अनुभव नहीं कर पाते। एकाग्र मन के द्वारा यह शक्तिसमूह और उसकी सारे शरीर पर होने वाली क्रिया को हम अनुभव कर सकते हैं। सूर्य (पिङ्गला) और चन्द्र (इड़ा) का प्रवाह श्वास-प्रश्वास के साथ खूब घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं, इसलिये श्वास-प्रश्वास नियन्त्रित कर सकने से ही समस्त देह को वश में किया जा सकता है।

कठ उपनिषद् में देह की रथ, मन की लगाम, बुद्धि की सारथि, इन्द्रियों की घोड़ों और विषय की पथ के साथ तुलना की है, आत्मा को इस रथ का रथी बताया है। सारथि बुद्धि यदि मन की लगाम के सहारे इन्द्रियाश्वों को संयत न कर सके तो वह कभी भी लक्ष्य में नहीं पहुँच सकेगा, दुष्टाश्वों के समान इन्द्रियाँ रथ को जहाँ चाहे खींच ले जाकर आत्मा रूपी रथी को मार सकती हैं; किन्तु ये दोनों इड़ा-पिङ्गला शक्तिप्रवाह दुष्ट अश्वों की रोकथाम के लिये सारथि के हाथ में लगाम के समान हैं। सारथि को इनका दमन करना चाहिए, करना पड़ेगा ही। नीति-परायण होने की शक्ति हमें प्राप्त करनी ही है, नहीं तो हम अपने कर्मसमूह को किसी प्रकार भी वश में नहीं लासकते। नीतिशिक्षायें किस प्रकार कर्म में परिणत की जासकती हैं, योग इसी बात की शिक्षा देता है। नीतिपरायण होना ही योग का उद्देश्य है। जगत् के सभी बड़े बड़े आचार्य योगी थे और इड़ा-पिङ्गला को उन्होंने सम्पूर्ण रूप से वश में कर रखा था। योगी लोग इन दोनों प्रवाहों को मेरुदण्ड के तले में संयत करके मेरुदण्ड के भीतर परिचालित कर देते हैं और तभी इड़ा-पिङ्गला का प्रवाह ज्ञानप्रवाह में परिणत होजाता है। योगी को छोड़कर और किसी को यह नहीं हो सकता।

प्राणायाम के सम्बन्ध में दूसरी साधनप्रणाली सब के लिये एक सी नहीं है। प्राणायाम एक छन्द की प्रत्येक ताल में करना पड़ता है और ऐसा करने का सहज उपाय है गिनना। बाद में वह एक यन्त्र

की भाँति निश्चित हो जाता है और उस गिनती की निश्चित संख्या में हमें पवित्र ओंकार मंत्र का जप करना होगा।

सीधे नथुने को अंगूठे से दबाकर चार बार ओंकार मंत्र जप करते करते बायें नथुने से धीरे धीरे श्वास लेना पड़ता है; इसी का नाम है प्राणायाम। तत्पश्चात् तर्जनी के द्वारा बायें नथुने को दबाकर दोनों नथुनों को बन्दकर शिर को वक्ष पर नवाकर रख ले और आठ बार ओंकार जप करे और श्वास को रोके रहे।

तत्पश्चात् शिर को फिर सीधा कर अंगूठे को सीधे नथुने से उठाकर मन ही मन में चार बार ओंकार जप करते हुए श्वास को छोड़ना चाहिए।

जब श्वास बाहर होजाय तब फुसफुस से समस्त वायु को बाहर करने के लिये पेट को संकुचित करे। फिर बायाँ नथुना बन्द कर दक्षिण नथुने से चार बार ओंकार जप करते हुए धीरे धीरे श्वास ले। फिर अँगूठे से दक्षिण नथुना बन्द कर शिर को वक्ष पर नवाकर आठ बार ओंकार जप करते हुए श्वास रोके और फिर माथा सीधा करके बायाँ नथुना खोलकर चार बार ओंकार जप करते करते श्वास को धीरे धीरे बाहर निकाले। उसी समय पहले के समान फिर पेट को सिकोड़े। जभी बैठे, इस प्रकार दो बार बायें नथुने से और दो बार दाहिने नथुने से कुल चार बार प्राणायाम करना चाहिए। बैठने से पहिले प्रार्थना कर लेने से अच्छा होता है। एक सप्ताह तक इस

प्रकार अभ्यास करना ठीक है। उसके बाद धीरे धीरे प्राणायाम की संख्या बढ़ाते जाओ; साथ ही साथ श्वासग्रहण; श्वासरोध और श्वास-त्याग की संख्या भी उसी अनुपात में बढ़ावे अर्थात् यदि छः बार प्राणयाम करे तो श्वास ग्रहण तथा त्याग करते समय छः बार, और कुम्भक के समय बारह बार ओंकार जप करना पड़ेगा। इस प्राणायाम के अभ्यास द्वारा हम और भी अधिक पवित्र, निर्मल और आध्यात्मिक भाव से पूर्ण हो जायेंगे। विपथ में मत जाओ; और कोई शक्ति (सिद्धाई) मत चाहो। प्रेम ही एक मात्र शक्ति है, जो चिरकाल तक रहती है और उत्तरोत्तर बढ़ती है। जो लोग राजयोग के द्वारा भगवान् के समीप आना चाहते हैं, उन्हें मानसिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में खूब सबल बनना चाहिए। प्रकाश देखकर पैर रखना चाहिए।

लाखों के बीच में कोई एक व्यक्ति कह सकता है "इस संसार को पार कर मैं भगवान् के समीप जाऊँगा"। सत्य के सामने खड़े होने वाले मनुष्य बहुत कम हैं, किन्तु फिर भी यदि हम लोगों में से किसी को कुछ करना है तो सत्य के लिये मरने के लिये भी तैयार रहना पड़ेगा।

तृतीय पाठ

कुण्डलिनी। आत्मा को जड़ कहने से काम नहीं चलेगा, इसका यथार्थ स्वरूप जानना पड़ेगा। हम आत्मा को देह समझते हैं; किन्तु वास्तव में इसे इन्द्रिय और चिन्ता से अलग करना होगा; तभी हम यह अनुभूति कर सकेंगे कि हम अमृत-स्वरूप हैं। जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, वह कार्य-कारण लेकर है और जो परिवर्तनशील है, वह नश्वर है। फलतः देह या मन अविनाशी नहीं हो सकते, क्योंकि वे सदा परिवर्तित होते रहते हैं। जो अपरिवर्तनशील है, वही अविनाशी है, क्योंकि उसके ऊपर और कोई क्रिया नहीं हो सकती।

पहले हम सत्यस्वरूप नहीं थे, अब होगये, यह कहना ठीक नहीं है; वास्तव में चिरकाल से हम सत्यस्वरूप ही हैं। हमारा कार्य है, उस अज्ञान के घूँघट को हटा देना, जिसने सत्य को हमसे छिपा रखा है। देह चिन्ता का फल है। सूर्य (पिङ्गला), चन्द्र (इड़ा) की गति देह के समस्त भागों में शक्ति सञ्चार करती है और अवशिष्ट शक्ति सुषुम्ना के अन्तर्गत विभिन्न चक्रों में, अर्थात् स्नायुकेन्द्र में सञ्चित रहती है।

इड़ा और पिङ्गला की गति मृत देह में नहीं देखी जाती, केवल प्राणमय सबल शरीर में ही रहती है।

योगी लोग केवल इसका अनुभव ही नहीं करते अपितु इसको देख भी सकते हैं। ये प्राणमय और ज्योतिर्मय हैं। चक्र भी ठीक वैसे ही हैं।

जागतिक कार्य साधारणतया ज्ञान और अज्ञान दोनों ही अवस्थाओं में रहने से होते हैं। योगियों की एक और अवस्था है, वह है ज्ञानातीत—ज्ञान से भी परे। समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का मूल उद्गम, सब समय और सब स्थानों में अक्षुण्ण-यह ज्ञानातीत अवस्था ही है। सहजात ज्ञान का क्रमशः जितना विकास होगा उतने ही हम पूर्णत्व की ओर अग्रसर होते जायेंगे। ज्ञानातीत अवस्था में कोई भूल नहीं होती। किन्तु सहजात ज्ञान की पूर्णता होने पर वह भी मानो यन्त्रवत् हो जाता है, क्योंकि उसमें ज्ञान की क्रिया नहीं होती। इस ज्ञानातीत अवस्था में स्थित रहने को "भावमुख में रहना" कहा जाता है। योगी लोग कहते हैं "इस अवस्था में जाने की शक्ति सब मनुष्यों को है", और समय आने पर सभी इस अवस्था में पहुँचते ही हैं।

चन्द्र और सूर्य (इड़ा और पिङ्गला) की गति को एक नये रास्ते से परिचालित करना होगा अर्थात् सुषुम्ना का मुख खोल कर उन्हें एक नया रास्ता दिखा देना होगा। जब सुषुम्ना में से होकर उनकी गति सहस्रार तक पहुँचेगी तब कुछ क्षणों के लिये हमारा देहाध्यास बिलकुल मिट जायगा।

मेरुदण्ड के तले जो मूलाधार चक्र है, वह बहुत काम की वस्तु

है। यही जगह प्रजनन-शक्ति-बीज या वीर्य का आधार है। एक त्रिकोण स्थान में एक छोटा-सा साँप कुण्डली लगाये बैठा है, योगी लोग इसको इस तरह प्रतीक द्वारा व्यक्त करते हैं। यह निद्रित साँप ही कुण्डलिनी है, इसको जाग्रत करना ही समस्त राजयोग का उद्देश्य है।

पशुसमान कार्य से जो यौन शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसी को ऊर्ध्वगति कर देने अर्थात् मनुष्य शरीर की महाविद्युत् धारा में अथवा मस्तिष्क में परिचालित कर देने से वह वहाँ सञ्चित होने पर ओज अथवा आध्यात्मिक शक्ति में परिणत होती है। समस्त सत् चिन्तन, समस्त प्रार्थनायें इस पशुशक्ति को ओज में परिणत करने में सहायता करती हैं, और उसी से हम आध्यात्मिक शक्ति भी प्राप्त करते हैं। यह ओज ही है मनुष्य का मनुष्यत्व, और केवल मनुष्य-शरीर में ही इस शक्ति का संग्रह सम्भव है। जो समस्त पशु-शक्ति को ओज में परिणत कर चुके हैं वही देवता हैं। उनके वचनों में अमोघ शक्ति होती है, उनके वचनों से नूतन जगत् की सृष्टि हो सकती है।

योगी लोग मन ही मन में कल्पना करते हैं कि यह कुण्डलिनी सुषुम्ना-पथ में प्रत्येक स्तर पर अनेक चक्रों को भेद करती हुई सहस्रार में उपस्थित होती है। यौन शक्ति जो मनुष्य शरीर का सार अंश है, यदि ओज शक्ति में परिणत नहीं होती तो स्त्री हो या पुरुष उसे कभी धर्म-प्राप्ति नहीं हो सकती।

कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की जाती, फिर भी उसको ठीक ठीक रास्ते में लगाया जा सकता है। इसलिये जो अद्भुत शक्ति हम लोगों के

हाथ में है उसको वश में करना हमें सीखना है और तत्पश्चात् प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा इस शक्ति को पशुशक्ति न होने देकर देवमय बना देना है। इसीसे मालूम पड़ता है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की भित्ति है। विशेषतः राजयोग में मन, कर्म, वचन से सम्पूर्णतया पवित्र होना आवश्यक है, इसलिये विवाह करो या न करो यदि देह के सार अंश को वृथा नष्ट कर दिया तो कभी धर्मलाभ नहीं हो सकता।

इतिहास कहता है कि सब युगों में बड़े बड़े द्रष्टा महापुरुष केवल साधु-संन्यासी ही नहीं होते, बल्कि वे मनुष्य भी होते हैं जो विवाहित जीवन के व्यवहार को छोड़ देते हैं। केवल पवित्रात्मा मनुष्य ही भगवत्साक्षात्कार करते हैं।

प्राणायाम से पहिले इस त्रिकोण मण्डल को ध्यान में देखने की चेष्टा करो। आँखें बन्द करके इसके चित्र की मन ही मन स्पष्ट रूप से कल्पना करो, सोचो कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिये कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचो—वह जग गयी है। और इड़ा तथा पिङ्गला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर करके उनको सुषुम्ना-पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।

चतुर्थ पाठ

मन को संयत करने से पहिले मन क्या है, यह जानना चाहिए।

चञ्चल मन को संयत करने और उसको विषयों से खींचने के लिये उसे एक भाव के साथ बाँध रखना होगा। इस प्रकार बार बार करना पड़ेगा। इच्छाशक्ति से मन को संयत करके भगवान् की महिमा विचारो।

मन को स्थिर करने का सब से सरल उपाय—एक स्थान पर स्थिर होकर बैठो, जहाँ भी मन भागना चाहता है वहाँ थोड़ी देर के लिये उसे जाने दो। किन्तु सदा चिन्तन करना है कि मैं द्रष्टा हूँ—साक्षी के समान बैठा हुआ मन की उछलकूद देख रहा हूँ। मैं मन नहीं हूँ। उसके बाद मन को देखो। विचारो—मैं मन से सर्वथा पृथक् हूँ। भगवान् के साथ अपने को अभिन्न मानो; जड़ वस्तु मन के साथ अपने को एक मत बना डालो।

सोचो, मन एक तरङ्गहीन तालाब है, चिन्तायें मानो उसके बुद्बुद हैं, उठते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। चिन्ताओं को रोकने की कोई चेष्टा मत करो, केवल कल्पना-नेत्र से देखते जाओ कि किस प्रकार वे आती जाती हैं। एक तालाब में जिस प्रकार एक ढेला छोड़ देने से उसमें पहले तो खूब बड़ी बड़ी तरङ्गें उठती हैं, उसके

बाद तरङ्गों की परिधि जितनी बढ़ जाती है, उनकी उत्पत्ति में भी उतनी ही कमी आजाती है। इसी प्रकार मन को इस तरह छोड़ देने पर उसके वृत्त की परिधि जितनी बढ़ जायगी, मनोवृत्तियों की नई नई सृष्टि भी उतनी ही कम होगी। किन्तु हम इसका ठीक उल्टा उपाय अवलम्बन करेंगे। पहले एक बड़े चिन्ता के वृत्त से आरम्भ करके उसको छोटा करते करते जब मन एक बिन्दु पर आजायगा तब उसे वहीं स्थिर करके रखना पड़ेगा। इसी भाव में खूब दृढ़ता से रहना पड़ेगा—मैं मन नहीं हूँ, मैं जो देख रहा हूँ, सोच रहा हूँ, वह मैं अपने मन की गतिविधि लक्ष्य कर रहा हूँ, इस प्रकार अभ्यास करते करते अपने साथ मन का जो तादात्म्यबोध है, वह प्रतिदिन कम होजायगा, तत्पश्चात् मन से अपने को पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकेगा; बाद में ठीक ठीक यह ज्ञान होजायगा कि मन और तुम एक नहीं हो।

जब यह होजायगा तो मन तुम्हारा नौकर होगा, उसको तुम इच्छानुसार वशीभूत कर सकोगे। योगी होने का पहला कदम है—इन्द्रियों से बाहर जाना; और दूसरा कदम है—मन को जीत लेना।

जहाँ तक हो सके, अकेले रहो। आसन बहुत ऊँचा न हो; पहले कुशासन, उसके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर रेशमी आसन बिछाओ। सहारा लेने की जगह न होना ही अच्छा है और आसन हिलना डुलना न चाहिए।

समस्त चिन्ताओं को हटाकर मन को खाली रखो, जभी कोई

चिन्ता मन में उठे तभी उसे भगा दो; इस प्रकार करने से देह रूप जड़ वस्तु का अतिक्रमण होजायगा। वास्तव में मनुष्य का सारा जीवन इस अवस्था को लाने की एक सतत चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चिन्तायें चित्र हैं; हम उनको नहीं बनाते। प्रत्येक शब्द का अर्थ है; हमारी प्रकृति के साथ ये जुड़ी हुई हैं।

हमारे सब से अच्छे आदर्श हैं भगवान्। उनका ही ध्यान करो। हम ज्ञाता को नहीं जान सकते, क्योंकि हम वही हैं।

अनर्थ की सृष्टि हम स्वयं ही करते हैं। हम जो हैं वही बाहर देखते हैं, क्योंकि जगत् दर्पण के समान है। यह छोटा शरीर हमारा बनाया हुआ एक छोटासा दर्पण है, किन्तु सारा विश्व है हमारा शरीर। सब समय इस प्रकार चिन्ता करने से यह समझ सकोगे कि न हम मरते हैं और न किसी को मारते हैं, क्योंकि वह सब हम ही हैं। हमारा जन्म भी नहीं है और न मृत्यु है, हमें केवल सब को प्रेम करना चाहिए।

"सारा विश्व मेरा शरीर है; समस्त स्वास्थ्य, समस्त आनन्द मेरा ही है, क्योंकि सभी विश्व के अन्तर्गत है।" बोलो, "मैं विश्व हूं।" दर्पण के ऊपर जो प्रतिबिम्बित हो रहा है वह सब दर्पण का ही काम है, यह बाद में समझ सकोगे।

यद्यपि हम एक छोटे तरङ्ग से जान पड़ते हैं, किन्तु हम सब के

ही पीछे एक विराट सागर है; इसीलिये हम सब एक हैं। समुद्र को छोड़ कर तरङ्गें नहीं रह सकतीं, कल्पना को ठीक रूप से नियुक्त करने से वह हमारे परम मित्र का कार्य करती हैं। कल्पना, युक्ति से अतीत हो जाती है, केवल वही आलोक हमें सर्वत्र ले जा सकता है।

चूँकि हमारे अन्दर प्रेरणा नहीं उठती, इसलिये महद्गुण के द्वारा हमें मन को उस प्रेरणा की उत्पत्ति के उपयुक्त बनाना पड़ेगा।

४

पञ्चम पाठ

प्रत्याहार और धारणा। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, "किसी भी रास्ते से जाओ मेरे ही समीप पहुँचोगे—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्।" "सभी मेरे पास आयेंगे।" मन को सब से मोड़कर किसी वस्तुविशेष में तन्मय करने की चेष्टा ही प्रत्याहार है। इसका पहला रूप है मन को छोड़कर उसके ऊपर नज़र रखना और वह क्या सोचता है, यह देखना। जैसे ही किसी चिन्ता के ऊपर नजर दोगे वैसे ही वह बन्द होजायगी; किन्तु चिन्ता को ज़बर्दस्ती बन्द करने की चेष्टा मत करो; केवल साक्षी होकर देखते जाओ। मन तो आत्मा नहीं है; यह जड़ की केवल एक सूक्ष्म अवस्था है। स्नायविक शक्ति लगाकर इसको वशीभूत करके हम इसे इच्छानुसार व्यवहार में ला सकते हैं।

देह है मन का बाह्य प्रकाश। किन्तु हम देह-मन के अतीत, अनन्त, नित्य, साक्षीस्वरूप आत्मा हैं। देह चिन्ता का ही परिणाम है।

जब वामरन्ध्र से श्वास क्रिया होती हो तब विश्राम करो, जब दक्षिण रन्ध्र से होती हो तब काम करो, जब दोनों रन्ध्रों से हो, तब ध्यान करो। जब देह, मन शान्त हों और दोनों नथुनों से श्वास-क्रिया हो रही हो तो समझना चाहिए कि ध्यानयोग्य ठीक अवस्था होगई।

पहले पहल ज़ोर करके मन का विरोध करने से कुछ फल नहीं होता, मन का निरोध अपने आप ही हो जाता है।

अँगूठा और अनामिका की सहायता से बहुत दिन प्राणायाम करने के पश्चात् केवल चिन्तन से ही इच्छाशक्ति के द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है। प्राणायाम में फिर थोड़ा परिवर्तन करना होता है। जिन सब साधकों को इष्ट-मंत्र मिल गया है, उनको रेचक और पूरक के समय "ओंकार" के स्थान पर इष्ट-मंत्र का और कुम्भक के समय "हुं," मन्त्र का जप करना चाहिए।

कुम्भक के समय जब "हुं," मन्त्र का जप करो तो मन ही मन में कल्पना करते जाओ कि वह भृत श्वास बार बार कुण्डलिनी के माथे पर आघात कर रहा है, और उसके द्वारा मानो वह जागृत होरही है। ईश्वर के साथ अपना एकत्व सोचो, जाग्रत भूमि में जिस प्रकार हम लोग देख पाते हैं कि एक आदमी आरहा है, उसी प्रकार ध्यान करने पर कुछ समय बाद हम लोग समझ सकेंगे कि चिन्तायें आरही हैं; किस प्रकार चिन्तायें उठती हैं और हम लोग कौन चिन्ता करने जारहे हैं यह भी समझा जासकेगा। जब हम मन से आत्मा को भिन्न कर सकेंगे, जब हम यह समझ सकेंगे कि हम और हमारी चिन्तायें अलग अलग हैं तभी समझना चाहिए कि इस अवस्था में हम पहुँच गये हैं। चिन्तायें तुम्हारे गले न पड़ जायँ, सदा उनका बन्धन काटो, बस वे अपने आप ही विलीन हो जायेंगी।

इन सद्विचारों का अनुसरण करो, उनके साथ साथ विचरण करो। जब वे शान्त हो जायेंगी तब सर्वशक्तिमान् भगवत्पादपद्मों के दर्शन होंगे। यही तुरीय (चतुर्थ) अवस्था है—भाव जिस समय विलीन होरहा हो; उस समय उसका अनुसरण करो और साथ ही साथ तुम भी विलीन हो जाओ।

द्युति अन्तर्ज्योति का प्रतीक है, योगी लोग उसे देख सकते हैं। कभी कभी हम ऐसा चेहरा देख पाते हैं जो ज्योति से घिरा रहता है। उसमें हम चरित्र और निर्मूल सिद्धान्त की अवस्थिति जान लेते हैं। भाव की आँखों के सामने हमारे इष्टदेव की मूर्ति भी आसकती है; उसको सरलता से प्रतीक रूप में लेकर हम मन को सम्पूर्ण रूप से एकाग्र भी कर सकते हैं।

यद्यपि हम समस्त इन्द्रियों की सहायता से ही चिन्ता करते हैं फिर भी अधिकांश में आँखों का उपयोग अधिक होता है। यहाँ तक कि चिन्तायें भी अन्त में अर्ध जड़ हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जासकता है कि चित्र के बिना चिन्ता ही नहीं की जासकती। पशु भी चिन्ता करते हैं ऐसा माल्म पड़ता है। किन्तु जब उनकी कोई भाषा नहीं तब जान पड़ता है कि उनके भावों के बीच कोई अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। योग के समय कल्पना को पकड़ रखना चाहिए किन्तु सावधान! वह पवित्र होनी चाहिए। हम लोगों में से प्रत्येक की कल्पना-धारा में विचित्रता है; तुम्हारे पक्ष में जो स्वाभाविक है उसीको करो, वही तुम्हारे लिये ठीक और सरल है।

बहुत जन्मों के कर्म का फल यह हमारा वर्तमान जीवन है। बौद्ध लोग कहते हैं, "एक दीपक से जिस प्रकार दूसरा दीपक जल उठता है"। प्रदीप अलग हैं किन्तु प्रकाश एक ही है।

सदा प्रसन्न और निर्भय रहो, प्रतिदिन स्नान करो, धैर्य, पवित्रता, अध्यवसाय ये सब रहने से ठीक ठीक योगी हो सकोगे। कभी जल्दी न करो। अलौकिक शक्तियाँ होने पर उसे विपथ समझो, जिससे वे तुम्हें लुभाकर वास्तविक मार्ग से कहीं अलग न कर दें। उन्हें दूर कर तुम्हारा जो एकमात्र लक्ष्य भगवान् हैं उन्हें ही पकड़े रहो। उसी चिरन्तन वस्तु को खोजो जिसको ढूँढ़ लेने से हमको चिरशान्ति प्राप्त होती है। पूर्णत्व प्राप्त करने के पश्चात् और कुछ भी इष्टवस्तु नहीं रह जाती जिसके लिये चेष्टा करनी पड़े; तब हम चिरमुक्त—शुद्ध स्वरूप—हो जायेंगे।

पूर्णसत्, पूर्णचित्, पूर्णआनन्द।

षष्ठ पाठ

सविकल्प और सुषुम्ना। सुषुम्ना का ध्यान करना विशेष आवश्यक है। यदि भावचक्षुओं से इसको देख सको तो इसका ही ध्यान करना सब से अच्छा है। चिरकाल तक इसका ध्यान करना चाहिए। सुषुम्ना एक सूक्ष्म, ज्योतिर्मय, सूत्राकार प्राणमय पथ है जो मेरुदण्ड के बीच से चलता है। कुण्डलिनी को इसी मोक्ष या ब्रह्ममार्ग में से होकर जगाना होगा।

योगियों की भाषा में सुषुम्ना के दोनों छोर दो पद्मों के साथ जुड़े हैं। नीचे का छोर कुण्डलिनी के त्रिकोण चक्र के पद्म में और ऊपर का छोर ब्रह्म-रन्ध्र या सहस्रार पद्म में है। इन दोनों के बीच में और भी पाँच पद्म हैं।

ऊपर से नीचे की ओर देखने से विभिन्न चक्र या पद्मों के नाम ये हैं—

सप्तम—सहस्रार

षष्ठ—आज्ञा चक्र (दोनों भौहों के बीच)

पञ्चम—विशुद्धाक्ष (कण्ठ में)

चतुर्थ—अनाहत (वक्ष में)

तृतीय—मणिपुर (नाभि देश में)

द्वितीय——स्वाधिष्ठान (उदर के नीचे)

प्रथम——मूलाधार (मेरुदण्ड के नीचे)

पहले कुण्डलिनी को जगाना चाहिए, उसे एक के बाद एक पद्म भेद करते हुए मस्तिष्क में लेजाना है। प्रत्येक स्थल मन का नूतन नूतन स्तर है।

परिशिष्ट

संक्षेप में राजयोग

योगाग्नि मनुष्य के पाप-पिञ्जर को दग्ध करती है। तब सत्वशुद्धि होती है और साक्षात् निर्वाण लाभ होता है। योग से ज्ञानलाभ होता है। ज्ञान भी योगी की मुक्ति के पथ का सहायक है। जिनमें योग और ज्ञान दोनों ही वर्तमान हैं, ईश्वर उनके प्रति प्रसन्न होते हैं। जो लोग हर रोज एक बार, दो बार, तीन बार या सब समय के लिए महायोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें देवता रूप से समझना चाहिए। योग दो प्रकार के हैं; जैसे—अभाव और महायोग। जब अपने को शून्य तथा सर्व प्रकार के गुण से विरहित रूप से चिन्ता की जाती है, तब उसे अभाव-योग कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा को आनन्दपूर्ण, पवित्र तथा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से चिन्ता की जाती है, उसे महायोग कहते हैं। योगी इन दोनों प्रकार के योगों द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार करते हैं। हम दूसरे जिन योगों के बारे में शास्त्र में पढ़ते या सुनते हैं, वे सब योग इस ब्रह्मयोग के—जिस ब्रह्मयोग में योगी अपने को तथा समूचे जगत् को साक्षात् भगवत्स्वरूपतया अवलोकन करते हैं—एक अंश के समान भी नहीं हो सकते हैं। यही समूचे योगों में श्रेष्ठ है।

राजयोग के ये कई विभिन्न अंग या सोपान हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उनमें से यम कहने से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह समझे जाते हैं। इस यम के सहारे चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है। शरीर, मन तथा वचन के द्वारा हमेशा के लिए समूचे प्राणियों की हिंसा न करने को या क्लेशोत्पादन न करने को अहिंसा कहते हैं। अहिंसा से बढ़कर धर्म और नहीं है। जीव के प्रति इस अहिंसाभाव को अवलम्बन करने की अपेक्षा मनुष्य का उच्चतर सुख और नहीं है। सत्य से सब कुछ मिलता है, सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं। यथार्थ कथन को ही सत्य कहते हैं।

चोरी या बलजोरी से दूसरे की चीज़ को ग्रहण न करने का नाम अस्तेय है। तन-मन-वचन से हमेशा सब अवस्थाओं में मैथुनराहित्य का नाम ही ब्रह्मचर्य है। अत्यन्त कष्ट के समय में भी किसी मनुष्य से कोई उपहार ग्रहण न करने को अपरिग्रह कहते है। अपरिग्रह साधना का उद्देश्य यह है,—किसी से कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है, ग्रहीता हीन हो जाता है, वह अपना स्वातंत्र्य भूल जाता है और बद्ध तथा आसक्त हो जाता है।

तपः, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच तथा ईश्वर-प्रणिधान—इन्हें नियम कहते हैं। नियम शब्द का अर्थ है नियमित अभ्यास तथा व्रत-परिपालन। उपवास तथा अन्य प्रकार के उपाय से देहसंयम को शारीरिक तपस्या कहते हैं। वेदपाठ या दूसरे किसी मन्त्रोच्चारण को सत्त्वशुद्धिकर स्वाध्याय कहते हैं। मन्त्र जपने के लिए तीन प्रकार के नियम हैं,—वाचिक,

उपांशु तथा मानस। वाचिक से उपांशु जप श्रेष्ठ है तथा उससे मानस जप श्रेष्ठ है। जो जप ऐसी ऊँची आवाज में किया जाता है कि सभी सुन सकते हैं, उसे वाचिक जप कहते हैं। जिस जप में केवल ओष्ठ का स्पन्दन मात्र होता है, किन्तु नजदीक रहने वाला कोई मनुष्य नहीं सुन सकता, उसे उपांशु कहते हैं। जिसमें किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता, केवल मन ही मन जप किया जाता है, तथा उसके साथ उस मन्त्र का अर्थ स्मरण किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। वही सबसे श्रेष्ठ है। ऋषियों ने कहा है—शौच दो प्रकार के हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर। मिट्टी, जल या दूसरी वस्तुओं के द्वारा जो शरीर शुद्ध किया जाता है, उसे बाह्य शौच कहते हैं, यथा स्नानादि। सत्य तथा दूसरे धर्म आदि से मन की शुद्धि को आभ्यन्तर शौच कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि दोनों ही आवश्यक हैं। केवल भीतर में पवित्र रहकर बाहर में अशुचि रहने से शौच पूरा नहीं हुआ। जब दोनों प्रकार के शौच का अनुष्ठान करना सम्भव नहीं होता है तब केवल आभ्यन्तर शौच का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है। पर ये दोनों प्रकार के शौच न रहने से कोई भी योगी नहीं बन सकता। ईश्वर की स्तुति, स्मरण तथा पूजारूप भक्ति का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

यम तथा नियम के बारे में कहा गया है। उसके बाद आसन है। आसन के बारे में इतना समझने से ही काफी होगा कि वक्षःस्थल, ग्रीवा तथा शिर को समान रखकर शरीर को खूब स्वच्छन्द भाव से रखना होगा। अब प्राणायाम के बारे में कहा जायगा। प्राण का

अर्थ अपने शरीर के भीतर रहनेवाली जीवनीशक्ति है और आयाम का अर्थ है उसका संयम। प्राणायाम तीन प्रकार के हैं—अधम, मध्यम तथा उत्तम। वह फिर तीन भागों में विभक्त है, जैसे पूरक, कुम्भक तथा रेचक। जिस प्राणायाम में १२ सेकण्ड समय वायु का पूरण किया जाता है उसे अधम प्राणायाम कहते हैं। २४ सेकण्ड समय वायु का पूरण करने से मध्यम प्राणायाम तथा ३६ सेकण्ड समय वायु का पूरण करने से उसे उत्तम प्राणायाम कहते हैं। अधम प्राणायाम से पसीना, मध्यम प्राणायाम से कम्पन तथा उत्तम प्राणायाम से आसन से उत्थान होता है। गायत्री वेद का पवित्रतम मन्त्र है। उसका अर्थ यह है कि, "हम इस जगत् के जन्मदाता परम देवता के तेज का ध्यान करते हैं, वे हमारी बुद्धि में ज्ञान का विकास कर दें।" इस मन्त्र के आदि तथा अन्त में प्रणव संयुक्त है। एक प्राणायाम के समय तीन गायत्रियों का मन ही मन उच्चारण करना पड़ता है। हर एक शास्त्र में ही प्राणायाम तीन अंशों में विभक्त रूप से कहा गया है—जैसे, रेचक, बाहर में श्वास-त्याग; पूरक, श्वासग्रहण तथा कुम्भक, स्थिति—भीतर में धारण करना। अनुभवशक्तियुक्त इन्द्रियगण लगातार बहिर्मुखी होकर काम कर रहे हैं तथा बाहर की 'वस्तुओं के सम्पर्क में आ रहे हैं। उनको हमारे अपने वश में लाने को प्रत्याहार कहते हैं। अपनी ओर संग्रह या आहरण करना, यही प्रत्याहार शब्द का वास्तव अर्थ है।

हृत्कमल में, शिर के ठीक मध्य देश में या शरीर के दूसरे स्थल में मन को धारण करने का नाम धारणा है। मन को एक स्थल में संलग्न करके, फिर उस एकमात्र स्थान को अवलम्बनस्वरूप मान कर कई वृत्तिप्रवाह उत्थापित किये जाते हैं, दूसरी तरह की वृत्ति के प्रवाह उठकर उनको नष्ट न कर सकें, इसकी कोशिश करते करते प्रथमोक्त वृत्तिप्रवाह ही क्रमशः प्रबल आकार को धारण करते हैं और जब शेषोक्त वृत्तिप्रवाह कम होते होते आखिर बिल्कुल चले जाते हैं तब अन्त में जब इन बहुतसी वृत्तियों का भी नाश होकर जो एकमात्र वृत्ति वर्तमान रह जाती है उसे 'ध्यान' कहते हैं। जब इस अवलम्बन की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, सम्पूर्ण मन ही जब एक तरंग के रूप में परिणत होता है, तब मन की इस एकरूपता का नाम है समाधि। तब किसी विशेष प्रदेश या चक्रविशेष को अवलम्बन करके ध्यानप्रवाह नहीं उत्थापित होता है, केवल ध्येयवस्तु का भावमात्र अवशिष्ट रहता है। अगर मन को किसी स्थल में १२ सेकण्ड धारण किया जाय तो उससे एक धारणा होगी; यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान तथा यह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होगी।

जहाँ अग्नि या जल से किसी विपद् की आशंका है, ऐसे स्थल में, सूखे हुए पत्तों से भरी हुई जमीन पर, वन्य जन्तुओं के द्वार भरे हुए स्थल में, चौराहे में, अत्यन्त कोलाहलपूर्ण जगह में, अत्यन्त भयजनक स्थल में, दीमक के ढेर की नजदीक, अथवा दुष्ट लोगों के

द्वारा पूर्ण स्थल में योग की साधना करना उचित नहीं है। यह व्यवस्था खास करके भारत के बारे में लगती है। जब शरीर अत्यन्त अलस या बीमार मालूम होता है अथवा जब मन अत्यन्त दुःखपूर्ण रहता है, तब साधना नहीं करनी चाहिये। खूब अच्छी तरह से छिपे हुए तथा मनुष्यरहित स्थल में, जहाँ कोई मनुष्य तुम्हें उपद्रव करने को नहीं आता, ऐसे स्थल में जाकर साधना करो। अशुचि स्थल में बैठकर साधना नहीं करना, वरन् सुन्दर दृश्यवाले स्थल में या तुम्हारे अपने घर में स्थित एक सुन्दर कोठरी में बैठकर साधना करना। साधना में प्रवृत्त होने के पहले समूचे प्राचीन योगियों, तुम्हारे अपने गुरु तथा भगवान को नमस्कार करके साधना में प्रवृत्त होना।

ध्यान का विषय पहले ही उल्लिखित हो चुका है। अब ध्यान की कई प्रणालियाँ वर्णित होती हैं। ठीक सरल भाव से बैठकर अपनी नाक के ऊपरी भाग में नजर करो। देखोगे, इस नाक के ऊपरी भाग में नजर मनःस्थैर्य की विशेषरूप से सहायक है। आँख के स्नायुद्वय के वशीकरण से प्रतिक्रिया के केन्द्रस्थल को ही अधिकतया वश में लाया जा सकता है, अतः उससे इच्छाशक्ति भी बहुत अधीन हो जाती है। अब कई प्रकार के ध्यान के बारे में कहा जाता है। सोचो, शिर से थोड़ेसे ऊपरी भाग में एक कमल है, धर्म उसका मूलदेश है, ज्ञान उसका मृणालस्वरूप है, योगी की अष्टसिद्धियाँ उस कमल का अष्टदलस्वरूप हैं और वैराग्य उसके अन्दर रहनेवाली

कर्णिका है। जो योगी अष्टसिद्धियाँ हाजिर होने पर भी उनको छोड़ सकते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये ही अष्ट सिद्धियों को बहिर्देशवर्ती अष्ट दल के रूप में, तथा अन्दर में रहनेवाली कर्णिका को परवैराग्य, अर्थात् आठ सिद्धियाँ हाजिर होने पर भी उसपर वैराग्य के रूप में वर्णन किया गया है। इस कमल के अन्दर हिरण्मय, सर्वशक्तिमान्, अस्पर्श्य, ओंकारवाच्य, अव्यक्त, किरणसमूह से परिव्याप्त परमज्योति की चिन्ता करो। उनका ध्यान करो।

और एक प्रकार के ध्यान का विषय कहा जाता है। सोचो कि तुम्हारे हृदय के अन्दर एक आकाश है—और उस आकाश के अन्दर एक अग्निशिखा के समान ज्योति उद्‌भासित होती है–उस ज्योतिशिखा को अपनी आत्मा के रूप में चिन्ता करो, फिर उस ज्योति के अन्दर और एक ज्योतिर्मय आकाश की चिन्ता करो; वे तुम्हारी आत्मा का आत्मा—परमात्मस्वरूप ईश्वर हैं। हृदय में उनका ध्यान करो। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सबको यहाँ तक कि, महाशत्रु को भी क्षमा करना, सत्य, आस्तिक्य आदि विभिन्न व्रतस्वरूप हैं। अगर इन सब में तुम सिद्ध नहीं हो सको तो भी दुःखित या भयभीत मत होना। कोशिश करो, धीरे से सभी हो जायेंगे। विषय की अभिलाषा, भय तथा क्रोध छोड़कर जो भगवान के शरणागत तथा तन्मय हुए हैं, जिनका हृदय पवित्र हो चुका है, वे भगवान के पास जो कुछ चाहते हैं, भगवान तत्क्षणात् उसे पूरण कर देते हैं। अतः उनकी ज्ञान भक्ति या वैराग्ययोग से उपासना करो।

"जो किसी की हिंसा नहीं करते, जो सबके मित्र हैं, जो सबके प्रति करुणभावापन्न हैं, जिनका अहंकार विगत हुआ हो, जो सर्वदा ही सन्तुष्ट हैं, जो सर्वदा योगयुक्त, यतात्मा तथा दृढ़निश्चयवाले हैं, जिनका मन तथा बुद्धि मेरे ऊपर अर्पित हुए हों, वे ही मेरे प्रिय भक्त हैं। जिनसे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्विग्न नहीं होते, जिन्होंने अतिरिक्त हर्ष, दुःख, भय तथा उद्वेग छोड़ दिये हैं, ऐसे भक्त ही मेरे प्रिय हैं। जो किसीका भरोसा नहीं करते हैं, जो शुचि, दक्ष, सुख तथा दुःख में उदासीन हैं, जिनका दुःख विगत हुआ हो, जो निन्दा तथा स्तुति में समभावापन्न तथा मौनी हैं, जो कुछ पाते हैं उससे ही जो सन्तुष्ट हैं, जो गृहशून्य अर्थात् जिनका निर्दिष्ट कोई घर नहीं है, समूचा जगत् ही जिनका घर है, जिनकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे मनुष्य ही योगी हो सकते हैं।

*   *   *   *

नारद नाम के एक पहुँचे हुए ऋषि थे। जैसे मनुष्यों के बीच में ऋषि अर्थात् बड़े बड़े योगी रहते हैं, वैसे देवताओं के बीच में भी बड़े बड़े योगी हैं। नारद भी वैसे एक महायोगी थे। वे सर्वत्र घूमा करते थे। एक रोज वन के भीतर से जाते हुए उन्होंने देखा कि एक मनुष्य ध्यान कर रहा है। वे इतना ध्यान करते हैं, इतने रोज एक आसन में बैठे हैं कि उनकी चारों ओर दीमक का ढेर हो गया है। उन्होंने नारद से कहा, "प्रभो, आप कहाँ जा रहे हैं?" नारदजी ने जवाब दिया, "मैं वैकुण्ठ जाता हूँ।" तब

उन्होंने कहा, "भगवान से पूछियेगा, वे मुझ पर कब कृपा करेंगे, कब मैं मुक्ति प्राप्त करूँगा?" और कुछ दूर जाते जाते नारदजी ने दूसरे एक आदमी को देखा। वह आदमी कूद-फाँद, नृत्य-गीत आदि कर रहा था। उसने भी नारदजी से वही प्रश्न किया। उस आदमी का कण्ठस्वर, वागभङ्गी आदि सभी विकृतभावापन्न थे। नारदजी ने उसे भी पहले के समान उत्तर दिया। वह बोला, "भगवान से पूछियेगा, मैं कब मुक्त होऊँगा?" पीछे नारदजी ने उस रास्ते से पुन: लौटते समय दीमक के ढेर के अन्दर रहनेवाले उस ध्यानस्थ योगी को देखा। उन्होंने पूछा, "देवर्षे, क्या आपने मेरी बात पूछी थी?" नारदजी बोले, "हाँ मैंने पूछा था।" तब योगी ने उनसे पूछा, "उन्होंने क्या कहा?" नारदजी ने जवाब दिया, "भगवान ने कहा मुझको पाने के लिये तुम्हें और चार जन्म लगेंगे।" तब उस योगी ने अत्यन्त विलाप करके कहना शुरू किया, "मैंने इतना ध्यान किया है कि मेरी चारों ओर दीमक का ढेर हो गया है, मुझको अभी चार जन्म बाकी हैं!" नारदजी तब दूसरे आदमी के पास गये। उसने उनसे पूछा, "क्या मेरी बात आपने भगवान से पूछी थी?" नारदजी बोले, "हाँ, भगवान ने कहा है, तुम्हारे सामने यह इमली का पेड़ है, इसके जितने पत्र हैं, तुमको उतनी बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।" यह बात सुनकर वह आनन्द से नृत्य करने लगा और बोला, "मैं इतने कम समय में मुक्ति प्राप्त करूँगा?" तब एक दैववाणी हुई "वत्स, तुम इसी क्षण मुक्ति

प्राप्त करोगे।" वह आदमी ऐसे अध्यवसाय से युक्त था, इसीलिये उसको वह पुरस्कार मिला। वह आदमी इतने जन्म साधना करने के लिये तैयार था। कुछ भी उसे उद्योग से रहित नहीं कर सका। परन्तु उस प्रथमोक्त आदमी ने चार जन्मों को ही अत्यन्त अधिक समझा था। जो आदमी मुक्ति के लिये सैकड़ों युग तक अपेक्षा करने को तैयार था, उसके समान अध्यवसायसम्पन्न होने पर ही उच्चतम फल प्राप्त होता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला', प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ६); द्वितीय भाग-मूल्य ६); तृतीय भाग-मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**–(विस्तृत जीवनी)–(द्वितीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि.सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. **ज्ञानयोग** (प्रथम संस्करण) ३)

१०. **पत्रावली (प्रथम भाग)** (प्रथम संस्करण) २=)

११. ,, **(द्वितीय भाग)** (प्रथम संस्करण) २=)

१२. **धर्मविज्ञान** (द्वितीय संस्करण) १॥=)

१३. **कर्मयोग** (द्वितीय संस्करण) १॥=)

१४. **हिन्दू धर्म** (द्वितीय संस्करण) १॥)

१५. **प्रेमयोग** (तृतीय संस्करण) १।=)

१६. **भक्तियोग** (तृतीय संस्करण) १।=)

१७. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग** (द्वितीय संस्करण) १।)

१८. **परिव्राजक** (चतुर्थ संस्करण) १।)

१९. **प्राच्य और पाश्चात्य** (चतुर्थ संस्करण) १।)

२०. **महापुरुषों की जीवनगाथायें** (प्रथम संस्करण) १।)

२१. **राजयोग** (प्रथम संस्करण))

२२. **स्वाधीन भारत! जय हो!** (प्रथम संस्करण))

२३. **धर्मरहस्य** (प्रथम संस्करण))

२४. **भारतीय नारी** (प्रथम संस्करण) ।)

२५. **शिक्षा** (प्रथम संस्करण))

२६. **शिकागो वक्तृता** (पञ्चम संस्करण) ॥=)
२७. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (द्वितीय संस्करण) ॥=)
२८. **मेरे गुरुदेव** (चतुर्थ संस्करण) ॥=)
२९. **कवितावली** (प्रथम संस्करण) ॥=)
३०. **वर्तमान भारत** (तृतीय संस्करण) ॥)
३१. **पवहारी बाबा** (द्वितीय संस्करण) ॥)
३२. **मेरा जीवन तथा ध्येय** (प्रथम संस्करण) ॥)
३३. **मरणोत्तर जीवन** (द्वितीय संस्करण) ॥)
३४. **मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें** ॥)
३५. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)
३६. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) ।≡)
३७. **ईशदूत ईसा** (प्रथम संस्करण) ।=)
३८. **विवेकानन्दजी की कथायें** (प्रथम संस्करण) १)
३९. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३)
४०. **श्रीरामकृष्ण-उपदेश,** (प्रथम संस्करण) ॥=)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति), ३)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३)
३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** (दुसरी आवृत्ति) ॥=)
४. **शिकागो-व्याख्यानें**—(दुसरी आवृत्ति) स्वामी विवेकानन्द ॥=)
५. **माझे गुरुदेव** (दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानन्द ॥=)
६. **हिंदु-धर्माचें नव-जागरण**—स्वामी विवेकानंद ॥-)
७. **पवहारी बाबा**—स्वामी विवेकानंद ॥)
८. **साधु नाग महाशय चरित्र** (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)—(दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.